हिन्दी सिनेमा में स्त्री विमर्श

डॉ. संध्या गर्ग,

एसोसिएट प्रोफेसर,
जानकी देवी मेमोरियल कॉलेज,
दिल्ली विश्वविद्यालय

1896 में 7 जुलाई को बॉम्बे में लुयू मेरे ब्रदर्स की दिखाई गई। फिल्म के साथ सिने युग का प्रारम्भ हो गया था। पहले दो दशकों की यात्रा के बाद दादा साहब फाल्के की मूक फिल्म राजा हरिश्चंद्र के साथ हिंदी सिनेमा ने जो सफर आरंभ किया वह एक इतिहास है जिसने भारतीय समाज की दिशा बदल दी। इस पूरे शतक में भारतीय समाज और संस्कृति को प्रभावित करने में सिनेमा को जो सफलता मिली है वह कला के किसी और रूप को नहीं मिली है। सिनेमा में चित्रपट पर दिखाई देने वाले कलाकार, उनका जीवन, उनके कपड़े, उनके संवाद सभी कुछ भारतीय जनमानस के लिए ट्रेंड सेटैर रहे हैं।

ऐसे में भारतीय सिनेमा से झाँकती स्त्री छवि की चर्चा करना समीचीन ही होगा। भारतीय स्त्री की परंपरागत छवि से लेकर नारी आंदोलन में बदलती छवि सभी भारतीय सिनेमा के पात्र बने हैं। 90 के दशक में जब भूमंडलीकरण के चलते विश्व एक होने लगा बाजार के संदर्भ में, मीडिया के संदर्भ में, और भारत में भी सामाजिक और राजनीतिक वातावरण बदलने लगा। ऐसे में भारतीय जनमानस की सोच भी बदलने लगी थी। स्त्री की सुंदर छवि जो कि केवल सिनेमा में नायक के इर्द–गिर्द मंडराने के लिए ही सीमित थी और अधिक से अधिक कुछ गीतों को उसके हिस्से आ जाते थे। ऐसे में एक उदाहरण देना चाहती हूँ 'परदेस' फिल्म की नायिका गंगा जो कि दो नायक के बीच है ओर अंत में दो टीमों में कबड्डी का मैच होता है और गंगा को जीतने वाले पुरुष के साथ विवाह करना तय होता है। यह सोच भारतीय पुरुष की मानसिकता है क्या गंगा वस्तु है क्या यह वही सामंतवादी सोच नहीं है जहाँ स्त्री की स्वयं का कोई निर्णय की, वरण की स्वतंत्रता नहीं है और दुर्भाग्य की बात यह है कि दर्शकों को यह सीन कहीं भी आपत्तिजनक नहीं लगता बल्कि वे भी खेल के मैदान में दर्शकों की तरह साँस रोके यह प्रतीक्षा करते हैं कि ट्रॉफी (गंगा) किसे मिलेगी?

स्त्री के परंपरागत माँ और पत्नी की भूमिका के बारे में सोच बदली तो है और उसे शिक्षा और कैरियर की छूट मिली है पर यह सब तभी संभव है जब वह अपनी परंपरागत छवि में कोई छूट न ले। व्यंग्यात्मक रूप से सही में दुर्गा बन जाए जो कि मानवेत्तर शक्तियों से लैस हो और सभी दायित्व निभाती रहे। सिनेमा ने भी उसकी इसी छवि को भुनाने की कोशिश की। नायिका कपड़े छोटे पहनती है पर वह सोच में 'भारतीय' है। सभी त्यौहारों को मनाने वाली, परंपराओं का पालन करने वाली। वास्तव में एक स्त्री का अस्तित्व परिवार के भीतर, परिवार द्वारा ही निर्मित है। आधुनिकता केवल इतने में ही है वह आर्थिक मोर्चे पर परिवार चलाने के लिए पति की सहायता करें।

"Men act, women appear, Men look at women, women watch themselves being looked at!" ''भारतीय सिनेमा इसी सिद्धांत पर चलता आ रहा है कि पुरुष नायक वहाँ क्रियात्मक गतिविधियों के लिए है पर नायिका केवल सौंदर्य

परोसने क लिए है। वह फिल्म के प्रचार और उसे बेचने के लिए आवश्यक है। वह हीरो के बदले उसकी इच्छा और उसके नायकत्व को सिद्ध करने का एक उपकरण मात्र बन कर ही सिद्ध होती है। यह भारतीय समाज की सोच है जहाँ कामकाजी महिला भी अपने निर्णय कभी प्रोफेशनल दबाव में लेती है औ कभी घर के दबाव में।

फिल्मों में स्त्री सौंदर्य को भुनाने का एक और माध्यम है आइटम गीत। एक स्त्री का छोट–छोटे कपड़ों में नृत्य और पुरुष दर्शकों द्वारा उसे लेकर अश्लील इशारे और कमेंट भी पुरुष दर्शकों को हॉल तक लाने का एक तरीका है। इस प्रकार स्त्री को दो जगह एक उपकरण के रूप में प्रयोग किया जाता है सिनेमा के अंदर और फिल्म हाल के अंदर। यह स्थिति दर्शक के मन में एक दुविधा को जन्म देती है जहाँ एक ओर उसके घर में माँ और बहन जो कि सुरक्षामय वातावरण में है और दूसरी ओर सिनेमा की स्क्रीन पर दिखती नायिका और आइटम गर्ल। वह प्यार सिनेमा से करता है पर समाज को देखते हुए चाहता घर वाली स्त्री है।

ऐसे में कुछ फिल्मकारों ने स्त्री आधारित फिल्में बनाई जो कि भारतीय समाज में स्त्री की स्थिति को दर्शाते हैं और स्त्री विमर्श के संदर्भ में देखी जा सकती है निश्चित रूप से ऐसी फिल्मों में पहला नाम आता है 'मदर इंडिया' (1957) का। यह संभवतः पहली हिन्दी फिल्म है जिसने एक स्त्री के अस्तित्व का प्रश्न उठाया। नरगिस ने इस फिल्म में राधा का किरदार निभाया जो ज़मींदार के अत्याचारों के आगे सिर नहीं झुकाती और अंत में अपने बेटे बिरजू को गोली मार देती है– उसी जमींदार की बेटी को बचाने के लिए। यहाँ नरगिस एक कमजोर माँ नहीं है, वह न्याय के लिए खड़ी होती है और यह उसे चाहिए चाहे उसके लिए उसे अपनी ममता का ही गला घोंटना पड़े।

अर्थ एक अन्य फिल्म है जिसे मैं स्त्री शक्ति का एक उदाहरण मानती हूँ। पुरुष सत्तात्मक समाज में पूजा (शबाना आजमी) जब अपने पति को किसी अन्य स्त्री के (स्मिता पाटिल) के साथ संबंध में देखती हैं तो वह अपने पति का घर छोड़कर वुमेन हॉस्टल में चली जाती है। पति के वापिस लौट आने पर वह उसे स्वीकार नहीं करती बल्कि उससे प्रश्न करती है कि यदि वह ऐसा कुछ करके वापिस आती तो क्या वह उसे स्वीकार करता? वह रोती नहीं, न भीख माँगती है और न ही लड़ने के लिए कानून का सहारा लेती है बल्कि स्वयं खड़ी होती है इस पुरुष प्रधान समाज में अपने अस्तित्व की लड़ाई के लिए। वहीं दूसरी ओर वह राजू को एक मित्र की तरह मानती है जो उसकी मदद करता है पर उससे विवाह के प्रस्ताव को ठुकरा देती है।

मंथन की बिन्दु (स्मिता पाटील) स्त्री सशक्तीकरण का प्रतीक हे जो कि ग्रामीण स्त्री है वह सभी अन्य स्त्रियों का नेतृत्व करती है उन्हें जातिगत राजनीति से ऊपर उठकर को–ऑपरेटिव सोसायटी में काम करने के लिए प्रेरित करती है।

भूमिका की नायिका ऊषा (स्मिता पाटील) फिल्मों की नायिका है। अमोल पालेकर से विवाह के बा वह एक घरेलू स्त्री बनना चाहती है पर उसका पति उसका मैनेजर बनकर उसके लिए काम लाता है और फिर स्वयं ही गॉसिप मैगज़ीन पढ़कर उस पर शक करता है। उसे अपने बच्ची और माँ को छोड़कर होटल में रहना पड़ता है बाद में वह सुनील वर्मा (नसीरुद्दीन शाह) और विनायक काले (अमरीश पुरी) के साथ जुड़ती है जो कि उसे रखैल की तरह रखता है। अंत में काले की पहली पत्नी उसे कहती है ''बिस्तर बदल जाते हैं, किचन बदल जाती है, आदमी का चेहरा बदल जाता है पर आदमी नहीं बदलते।'' यह समाज का सच है जो कि स्त्री के संघर्ष की राह को निरंतर और कठिन बनाता है। बाजार भी

इसी सच्चाई की एक कहानी है जिसमें दुल्हन खरीदने बेचने वाली एक वस्तु है।

मिर्च मसाला केतन मेहता की एक सशक्त फिल्म है जो बताती है अबला कही जाने वाली स्त्री जब अपनी इज्जत और स्वाभिमान की रक्षा के लिए खड़ी होती है तब वह बड़ी से बड़ी ताकत से लड़ जाती है। सोनबाई (स्मिता पाटिल) सूबेदार के द्वारा किए जा रहे शारीरिक शोषण क लिए तैयार नहीं है। आरंभ में बाकी औरतें डरती है पर बाद में मिलकर विरोध करती हैं। फिल्म का अंत सूबेदार की दर्द भरी चिल्लाहट से होता है। क्योंकि सभी औरतें मिलकर उसकी आँखों में मिर्च की बोरियाँ उलट देती हैं। यहाँ सोनबाई अपने आत्म सम्मान के लिए जो हिम्मत दिखाती है, वह कई शहरों में रहने वाली आधुनिक युवतियों में भी नहीं दिखता।

वहीं फैशन ग्लैमर और पैसे की दुनिया की चाहत में अपना सब कुछ गँवा देने वाली मॉडल की कहानी है। यह दुनिया मायावी है। इसके आकर्षण में आने वाली युवतियाँ एक समय अपने को आकाश की ऊँचाईयों में पाती हैं और अगले ही पल सैक्स और शोषण के दलदल में। यहाँ चेहरे रोज बदल जाते हैं। यह उन स्त्रियों की कहानी है जिनके स्त्री होने का अर्थ केवल शरीर होना है। दिमाग और भावनाओं की उनसे अपेक्षा नहीं की जाती और निश्चित रूप से शरीर का आकर्षण समाप्त होते ही उनका अस्तित्व भी समाप्त हो जाता है। प्रियंका चोपड़ा और कंगना राउत ने बाजार की दुनिया में औरत के सच को बहुत सशक्त ढंग से अभिनीत किया। इस शोषण चक्र से बाहर आना कठिन तो है पर असंभव नहीं, फिल्म की नायिका मेघना अपने आत्मबल से इस शोषण चक्र से बाहर आती है।

'आंधी' एक स्त्री की महत्वाकांक्षाओं की कहानी है। राजनीतिक सफलता कैसे व्यक्तिगत जीवन को प्रभावित करती है विशेष रूप से स्त्री यदि राजनीति में अपना कैरियर बनाना चाहती है तो पारिवारिक स्तर पर उसे बहुत सारे त्याग करने होते हें। उसका व्यक्तिगत जीवन जिस उतार–चढ़ाव से गुजरता है, उसमें उसके पास कोई रास्ता नहीं बचता कि वो दोनों स्थितियों से संतुलन बनाकर रख सके। यह स्थिति दुखद है पर सच है कि भारतीय समाज में अधिकतर सफलता को छूने वाली महिलाएँ पारिवारिक स्तर पर उतनी सुखी नहीं रह पाती है।

'दामिनी' (1993) एक ऐसी युवती की कहानी है जो अपने अधिकारों के प्रति सचेत है। इस फिल्म में उसकी लड़ाई अपने ही परिवार से है। उसके घर में काम करने वाली एक औरत के साथ बलात्कार होता है और वह उसके न्याय की लड़ाई लड़ती है। फिल्म का अंत दुखद है जिसमें उसे मानसिक रूप से अस्थिर बता दिया जाता है, निश्तिच रूप से परिवार उसका साथ नहीं देता और न्याय प्रक्रिया भी बिक जाती है। एक बार फिर से प्रश्न है कि यह नारी–विमर्श का दौर और महिला अधिकारों के नारों के बीच यदि कोई स्त्री अपने ही परिवार द्वारा पागल घोषित कर दी जाती है क्योंकि वह सच का साथ देना चाहती है तो क्या केवल स्त्री विमर्श लेखन ही इस परिस्थिति को बदलने में सक्षम होगा?

'चाँदनीबार' और 'द डर्टी पिक्चर' में जिस स्त्री को दिखाया है। वह सेक्स वर्कर की तरह ही काम करती है, पर पहली फिल्म में वह विवशता वश किया गया कार्य है जबकि 'द डर्टी पिक्चर' की नायिका इसे सफलता की सीढ़ी बना लेती है। मैथिलीशरण गुप्त ने लिखा था, 'योनि नहीं है केवल नारी' जबकि सत्य यह है कि स्त्री की स्थिति इससे बेहतर नहीं है। 'कहानी' की नायिका अपने मृत पति का बदला लेने के लिए स्वयं एक पूरा 'प्लाट' बनाती है और फिर सात मास की गर्भवती स्त्री का वेश धारण करके, लोगों की संवेदना और सहानुभूति प्राप्त करते हुए अपना लक्ष्य हासिल करती है।

कुछ लीक से हटकर फिल्मों की चर्चा की जाए तो रूदाली का नाम लेना समीचीन होगा। फिल्म की नायिका 'शनीचरी' बचपन से दुर्भाग्य के साथ ही बढ़ी हुई है। एक शराबी पुरुष के साथ विवाह होने के बाद एक मानसिक अस्वस्थ बच्चे की माँ बनती है पर ये परिस्थितियाँ उसे तोड़ती नहीं है न ही वह रोती है जबकि दूसरी ओर वह 'रूदाली' का व्यवसाय पेट पालने के लिए करती है जहाँ किसी की मृत्यु होने पर उसे रोने के लिए बुलाया जाता है। किसी की मृत्यु पर रो–रोकर ऐसा वातावरण बना देने वाली शनीचरी जीवन के संघर्षों की चोट खाकर अपने लिए रोना भूल चुकी है। एक अन्य फिल्म है 'फायर' जो कि समलैंगिकता के विवादास्पद मुद्दे पर एक महिला फिल्मकार दीपा मेहता द्वारा बनाई गई। पितृसत्तात्मक समाज की दो महिलाएँ जो कि कहीं अपने पतियों द्वारा की जा रही उपेक्षा से त्रस्त है, आपस में एक–दूसरे में शारीरिक व मानसिक सुरक्षा खोजने लगती हैं। निश्चित रूप से सामाजिक दृष्टि से इस फिल्म को बहुत बड़ा खतरा माना गया पर यह एक महिला की बदलती सोच का कैनवास तो चित्रित कर ही गई, जहाँ वह पुरुष पर किसी भी बात के लिए आश्रित नहीं है। वाटर जोकि बनारस की हिन्दु विधवाओं की दयनीय स्थिति को लेकर बनाई गई, दीपा मेहता की एक अन्य फिल्म है। 1930 में विधवाओं को सामान्य जीवन जीने का हक छोड़कर आश्रमों में जाकर रहने का जो सिलसिला आरंभ हुआ। उसने उन्हें पवित्रता की आड़ में जीवन जीने के साधन जुटाने के लिए अनाचार करने पर भी विवश किया। जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं से रहित जीवन किसी भी व्यक्ति को नैतिकता और पाप–पुण्य की अवधारणा से हटकर जीवन जीने की लालसा में किसी रास्ते पर चलने के लिए विवश कर देगा। स्त्री के लिए ही यह बंधन क्यों एक पुरुषविधुर होने पर दूसरे विवाह का अधिकारी और स्त्री के विधवा होने पर उससे जीवन जीने का अधिकार ही छीन लिया जाए यह किसी धर्म या मानवीय आधार के समाज की सोच नहीं होनी चाहिए पर लगभग हर धर्म में विधवा स्त्री को लेकर यही सोच है कि अब उसका जीवन समाप्त हो गया है।

स्त्री के अस्तित्व के इस संघर्ष को हिन्दी सिनेमा ने हल्के फुल्के कॉमेडी अंदाज में भी प्रस्तुत किया है लेकिन इससे इस मुद्दे की गंभीरता और संवेदना परे कोई अंतर नहीं आता है। 'इंगलिश–विंगलिश' की नायिका अपने पति और बच्चों के मज़ाक का विषय बनती रहती है। घर के और पति के कार्यों में ही जीवन की उपलब्धि मनाने वाली स्त्री जब जानती है कि उसे अपने लिए कुछ करना है तो वह आयू को भी बंधन नहीं मानती। वह इंगलिश सीखती है और किसी अवसर पर धारा प्रवाह इंगलिश बोलकर सबको चकित कर देती है। एक छोटी–सी घटना और बात है लेकिन स्त्री अस्तित्व विमर्श के मुद्दे से जुड़ी हुई है। एक अन्य फिल्म है 'क्वीन' कंगना राऊत द्वारा निभाया गया चरित्र 'रानी' एक युवती है जिसमें आत्मविश्वास की कमी है। वह अपने मंगेतर के कहे अनुसार ही सब काम करती हैं। 'विजय' उस पर पूरा नियंत्रण रखना चाहता है, पर फिर भी शादी के एक दिन पहले उसे लगता है कि विदेश में रहने के कारण उसका जीवन स्तर बदल गया है और रानी उसे 'मैच' नहीं करती, वह विवाह से इन्कार करता है। रानी पहले से बुक हनीमून पर अकेले जाने का निर्णय लेती है और पेरिस का यह ट्रिप उसका जीवन बदल देता है। आत्मविश्वास से भरी रानी वापिस लौटने पर विजय को अस्वीकार कर देती है और उसे धन्यवाद देती है। यह धन्यवाद अपने से अपनी पहचान कराने के लिए है।

इनके अतिरिक्त लज्जा, जुबैदा, डोर, पहेली, बैंडित क्वीन, नो वन किल्ड जेसिका, मर्दानी सभी फिल्में समाज की स्त्री के प्रति सोच, स्त्री के अस्तित्व के संघर्ष, दमन के खिलाफ

उसके आक्रोश और विरोध को दर्शाने वाली फिल्में है।

'अस्तित्व' की तब्बू जो कि गृहस्थी में खुश है, अपने संगीत अध्यापक के साथ कुछ क्षणों में एक हो जाती है और बहुत लम्बे समय के बाद पति को स्वयं बताती है कि उसका पुत्र संगीत अध्यापक का है। वह घर छोड़ देती है पर अपराधी की तरह नहीं क्योंकि उसकी परिवार के प्रति निष्ठा उसकी शारीरिक इच्छापूर्ति के कुछ कमजोर क्षणों के चलते दाँव पर नहीं लगाई जा सकती। वह अपने निर्णय के लिए स्वयं जिम्मेदारी अनुभव करती है और पति तथा पुत्र को छोड़ने का निर्णय लेती है वहीं 'देव डी' की माही यौन इच्छाओं की स्वतंत्रता को लेकर एक बिल्कुल अलग ही सोच रखती है।

जन संचार माध्यम आधुनिक जगत की रीढ़ है। उनके बिना समाज पंगु हो सकता है। समाज की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति की दृष्टि से ही जनसंचार माध्यमों का विकास हुआ पर यह भी निर्विवाद सत्य है कि इन माध्यमों के सांस्कृतिक और राजनीतिक आयाम भी होते हैं। आधुनिक जनसंचार माध्यमों की बात की जाए तो सिनेमा ने जिस व्यापक सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनीतिक संदर्भों में समाज पर अपना प्रभाव छोड़ा है उस पर प्रश्न चिन्ह नहीं लगाया जा सकता। सिनेमा के कलाकारों द्वारा अभिनीत चरित्र और उनके संवादों ने जनमानस को अपने चुम्बकीय आकर्षण में लिया है। कुछ संवाद तो दर्शकों के लिए अपनी रोजमर्रा की जिन्दगी में, अपने भावों को व्यक्त करने के व्दम स्पदमत भी बन गए हैं। ऐसे प्रभाव के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत आलेख में मैंने सिनेमा और स्त्री की छवि के बारे में कुछ विचार–बिन्दुओं पर बात की है या ऐसा कहा जाए कि सिनेमा के माध्यम से भारतीय स्त्री की जीवन–कथा और स्त्री–विमर्श में सिनेमा योगदान की चर्चा की है।

स्त्री विमर्श पर पिछले कुछ वर्षों मैं बहुत लिखा गया और बहुत सी विचार गोष्ठियाँ हुई। वास्तव में स्त्री विमर्श का उद्देश्य स्त्री की मुक्ति नहीं है, पुरूष को भी उन कामनाओं और वर्जनाओं से मुक्त करना है जो स्त्री पर पुरूष वर्चस्व को सही ठहराती हैं। आरंभ से आज तक स्त्री की जिस छवि ने सम्राटों से लेकर साहित्यकारों को आकर्षित किया वह छवि केवल सौन्दर्य से भरी भोग्या की छवि रही। प्राचीन समय को छोड़ दिया जाए तो बीसवीं शताब्दी से लेकर इक्कीसवीं सदी के प्रवेश द्वार तक यदि स्त्री विमर्श की बात की जाए, उनकी स्वायतता और अधिकारों का प्रश्न उठाया जाए तो केवल इतना ही हुआ कि कुछ स्त्रियाँ नौकरी करने लगी। और इसे स्त्री–सम्मान के साथ न जोड़ कर आर्थिक पक्ष से ही जोड़ा जाए तो उचित होगा क्योंकि यह उनके सामाजिक और मानसिक विकास से नहीं जुड़ा न ही पुरूष ने उनके इस रूप को स्वीकार किया। ''प्रायः पुरूष ज्यादा बुद्धिमान, ज्यादा साहसी या ज्यादा सांस्कृतिक और निष्ठावान गुणों वाली लड़की से सहम जाते हैं।'' ऐसे समय और वातावरण के परिप्रेक्ष्य में सिनेमा ने भी लंबे समय तक स्त्री की परंपरागत छवि को ही उकेरा है, जहाँ स्त्री सौन्दर्य के प्रतिमानों से लदी केवल नायक की छाया भर है, उसका कार्य दर्शकों को अपने सौन्दर्य से अभिभूत कर सिनेमा हॉल तक लाना ही रहा है। या फिर कुलटा, वेश्या और गोल गोल आँखें घुमाती घर में ही राजनीति करने वाली खलनायिका के रूप से सिनेमा बाहर नहीं निकल सका है। ऐसे में कुछ फिल्में जिनमें स्त्री के कुछ अन्य पक्षों का चित्रण हुआ वे कम हैं पर परिवर्तन का संकेत तो देती हैं। कुछ चुनिंदा फिल्में जिनकी चर्चा प्रस्तुत विषय के संदर्भ में करना उपयुक्त होगा उनमें सबसे पहला नाम मेरे मन में 'मदर इंडिया' का है। इस फिल्म को मैं स्त्री की सामाजिक स्थिति के एक यथार्थ चित्र के रूप में में वो देखती ही हूँ पर स्त्री सशक्तीकरण का एक सबल उदाहरण भी है। अन्य फिल्में अर्थ, मंथन, भूमिका, बाजार, मिर्च

मसाला, मोहरा, फैशन, मैरी कॉम, आँधी, सुजाता, पाकीजा, रजिया सुल्तान, चित्रलेखा, रजनीगंधा है जिनमें स्त्री की परंपरागत छवि को तोड़ने की कोशिश की गई है। स्त्री यहाँ स्वतंत्र चिंतन, स्वनिर्णय, आत्म–निर्भर, आर्थिक स्वतंत्रता, सामाजिक भय से मुक्त होने की ओर अग्रसर होती दिखाई देती है। ये नायिकाएँ समाज में स्त्री की बदलती भूमिका को रेखांकित करती हैं। पुरूषों की सत्ता वाले समाज में अपनी स्वतंत्र सत्ता की तलाश में संघर्षरत, ये नायिकाएँ से स्त्री विमर्श के आंदोलनों को सिनेमा की ओर से एक स्वर देती हैं।

Copyright © 2016, Dr. Sandhya Garg. This is an open access refereed article distributed under the creative common attribution license which permits unrestricted use, distribution and reproduction in any medium, provided the original work is properly cited.